

आचार्य शुक्ल की सामाजिक दृष्टि : नये आयाम

(चिंतामणि - ४ के संदर्भ में)

आलोचना अपने युग की सामाजिक स्थितियों को नजरंदाज़ करके नहीं लिखी जा सकती। किसी युग विशेष में एक साथ कई विचारधाराएँ मौजूद होती हैं। कुछ विचारधाराएँ रूढ़ि बन जाने के बावजूद कुछ प्रभावशाली वर्गों द्वारा संरक्षित होने के कारण युग की गतिविधियों को प्रभावित करती हैं। विचारधाराएँ कार्यों की आड़ में सक्रिय होती हैं। अतः इन्हें एक ही नजर में पहचान पाना मुश्किल होता है। साथ ही, वर्ग विशेष में विचारधाराओं का पारस्परिक घालमेल इनके स्पष्ट रेखांकन के कार्य में मुश्किलें पैदा करता है। ऐसे में एक आलोचक की उपादेयता इन बातों पर निर्भर करती है कि वह युग की धड़कनों को कहाँ तक जान पाया ? समाज में प्रचलित विचारधाराओं के अंतर्विरोधों को कहाँ तक पहचान पाया ? साथ ही वह युगीन समस्याओं से टकराने के लिए जनसाधारण को कहाँ तक नया नज़रिया दे पाया ? इन कार्यों के लिए आलोचक अपनी आलोचना दृष्टि का सहारा लेता है। आलोचक सामाजिक प्रक्रिया तथा सामाजिक प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले तत्वों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार करते हुए समाज से संबंधित महत्वपूर्ण निष्कर्ष अपनी सामाजिक दृष्टि के सहारे ही निकालता है।

‘चिन्तामणि भाग- ४’ में सन् १९०२ से १९३६ तक रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित वे दुर्लभ सामग्रियाँ संकलित हैं, जो कहीं संकलित नहीं थीं। कुसुम चतुर्वेदी ने संकलन और संपादन कुशलतापूर्वक किया है। चिन्तामणि - ४ में ऐतिहासिक, वैज्ञानिक तथा सामाजिक लेखों के अलावा सभा-सम्मेलनों तथा नई खोजों की रिपोर्ट, पुस्तक समीक्षा तथा पुस्तकों के लिए लिखी गई भूमिकाएँ भी शामिल हैं। इनमें शुक्ल जी के चिंतन के कुछ नए आयाम ही सामने नहीं आते, बल्कि वे अपने युग की सामाजिक जरूरतें पूरी करते हुए भी दिखाई देते हैं। यह उल्लेखनीय है कि सामाजिक जरूरतों की पूर्ति के अंतर्गत शुक्ल जी का सामाजिक गतिविधियों के विश्लेषण तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान के प्रयास के साथ साहित्यकारों तथा राजनीतिक आंदोलनकारियों को पथ-निर्देश देने तथा संस्कृति को युगानुसार संशोधित करने का प्रयास भी शामिल है। सामाजिक जरूरतों की पूर्ति के लिए सबसे पहले सामाजिक जरूरतों को जानना जरूरी था। यह काम शुक्ल जी ने अपनी पैनी सामाजिक दृष्टि के सहारे ही किया।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जिस युग में लिख रहे थे, उस युग में भारत गुलाम था। अंग्रेजों ने भारतीयों के जातीय स्वाभिमान को कुचलने के लिए भारत की कला-संस्कृति को निचले दर्जे का घोषित किया। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जिस व्यक्ति को हमेशा हीन होने का आभास कराया जाए वह निष्क्रिय बनकर रह जाता है। अंग्रेजों के इस प्रचार के कारण भी भारतीयों में गुलामों की-सी मानसिकता का विकास होता गया। इस प्रतिकूल स्थिति से टकराने के लिए शुक्ल जी ने भारतीय कला और संस्कृति के महिमामंडन का जरिया अपनाया। पर उनके लेखों में जातीय संस्कृति के महिमामंडन के साथ जनसाधारण में लगन और साहस जगाने की कोशिश भी बराबर दिखाई देती है। इस बात पर गौर करना जरूरी है कि शुक्ल जी ने भारतीय कला और संस्कृति के महिमामंडन के लिए प्रशांसात्मक उक्तियों का सहारा नहीं लिया, बल्कि कहीं ऐतिहासिक घटना, तो कहीं समसामयिक घटना का आवश्यकतानुसार उल्लेख करके ऐसा प्रभाव उत्पन्न किया है कि एक ओर भारतीय कला और संस्कृति की श्रेष्ठता खुद-ब-खुद साबित होती गई, तो दूसरी ओर उनके युग के लोगों को साहस और लगन के साथ कार्य करने की प्रेरणा भी मिली। उदाहरणस्वरूप ‘हुएन संग’ लेख में आचार्य शुक्ल ने एक ओर भारत में ही अपनी हर शंकाओं से मुक्ति प्राप्त करने वाले ‘हुएन संग’ का जीवन वृत्तांत पेश कर भारतीय संस्कृति का महिमामंडन किया, तो दूसरी ओर हुएन संग को साहस, उच्चादर्श तथा लगन की प्रतिमूर्ति बनाकर जनसाधारण को जागृत करने का प्रयास किया। यहाँ एक बात गौर करने की है कि जिस युग में ईश्वर को तर्क

की कसौटी पर कसे जाने की बात हो रही थी उसी युग में आचार्य शुक्ल हुएन संग के बुद्ध की छाया देखकर आर्द्र हो उठने की बात भी कर रहे थे। दरअसल इस वर्णन के पीछे उनका मकसद भारतीयों को साहस तथा कठिन श्रम के बाद प्राप्त होने वाली आजादी के आनंद का पूर्वाभास कराना था, ताकि भारतीय दृढ़प्रतिज्ञ होकर देशोद्धार के कार्य में संलग्न हो सकें।

भारतीयों के एक खास वर्ग को अंग्रेजी साम्राज्यवाद का साथ देते हुए देखकर भारत के जनमानस में हीन भावना की जड़ें मजबूत हो रही थीं। इस हालात से लड़ने के लिए शुक्ल जी ने 'मेगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन की भूमिका' लेख में सिकंदर के भारत पर आक्रमण की ऐतिहासिक घटना का वर्णन किया। इसके जरिये यह बात साबित की कि जिस युग में सिकंदर के सामने समर्पण करने वाले तक्षशिला नरेश जैसे व्यक्ति थे, उसी युग में पोरस तथा चन्द्रगुप्त जैसे लोग भी थे जिन्होंने भारतीय गरिमा को कलंकित होने से बचाया। इन उदाहरणों से यह बात उभर कर सामने आती है कि सामाजिक समस्याओं से निपटने के लिए मनोवैज्ञानिक आधार खड़ा करना आचार्य शुक्ल की सामाजिक दृष्टि की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। 'भारत की शिल्पकला' शीर्षक रिपोर्ट में आचार्य शुक्ल ने भारत की शिल्पकला को उत्कृष्ट साबित करने के लिए लंदन में हुए रायल एशियाटिक सोसाइटी के अधिवेशन में विन्सेंट स्मिथ द्वारा पढ़े गए आलेख की प्रमुख बातों को सबूत के तौर पर पेश किया। इस आलेख में स्मिथ ने भारत की शिल्प-कला को उत्कृष्ट घोषित किया था। एक अंग्रेज का भारत की शिल्पकला को उत्कृष्ट कहना निश्चित रूप से भारतीयों की हीन भावना को घटाने में मददगार साबित हो सकता था। इसी भावना से प्रेरित होकर शुक्ल जी ने अपनी दृष्टि एक समसामयिक घटना पर केंद्रित करके यह रिपोर्ट लिखी।

उस युग में अंग्रेजों ने 'फूट डालो और शासन करो' की नीति के जरिये हिंदुओं और मुसलमानों के बीच तनाव पैदा कर दिया था। ऐसे में आचार्य शुक्ल ने 'जापानी खोज', 'भीटा के खंडहर', 'बुद्धदेव की हड्डियां' तथा 'प्राचीन पारस का संक्षिप्त इतिहास' जैसे रिपोर्ट और लेख लिखकर अप्रत्यक्ष रूप से लोगों का ध्यान इस ओर खींचा कि भारत सिर्फ हिंदुओं का देश नहीं, यहां बौद्ध और पारसी भी बसते हैं। भारत एक धर्मनिरपेक्ष देश है। अतः सांप्रदायिक आधार पर इस देश को बांटा नहीं जा सकता। 'बुद्धदेव की हड्डियां' शीर्षक रिपोर्ट में खुदाई से पाए गए बौद्ध धर्म से संबंधित सामग्रियों के प्रति भारतवासियों की श्रद्धा दिखाकर शुक्ल जी ने मानवता के पोषक बुद्ध के प्रति श्रद्धांजलि व्यक्त करते हुए वस्तुतः धार्मिक सहिष्णुता को ही बढ़ावा देने की कोशिश की। शुक्ल जी का विचार था कि कला समाज के लिए है। अतः लोगों में यदि इन रिपोर्टों के जरिये कला के प्रति श्रद्धा को जगाया जाए तो अलग-अलग धर्मानुयायी एक दूसरे के करीब आ सकते हैं। इस तरह सांप्रदायिकता की दीवारें तोड़ी जा सकती हैं। अतः कला को आचार्य शुक्ल ने अपने युग की विकट स्थितियों से लड़ने के लिए एक अस्त्र के रूप में चुना। आचार्य शुक्ल यह भली-भाँति जानते थे कि भारतीयों के दिलों में धर्म की जड़े कला की तुलना में काफी भीतर तक पहुँची हुई हैं। धर्म का नशा लोगों के सिर पर चढ़कर बोलता है, जबकि कला के प्रति रुचि लोगों को कई बार उनकी जगह से थोड़ा-सा हिलाकर ही रह जाती है। इसकी सबसे बड़ी वजह यह है कि धर्म के प्रति लोगों में जितनी श्रद्धा है, उतनी कला के प्रति नहीं है। लोगों की धर्म के प्रति अंध-श्रद्धा वाकई खतरनाक बात थी। भारतीयों के इसी श्रद्धा भाव को मनमाने ढंग से भड़का कर अंग्रेज अपना काम निकालते थे। ऐसे में आचार्य शुक्ल ने लोगों में कला के प्रति श्रद्धा भाव जगाने के साथ-साथ उनमें धर्म के प्रति वैज्ञानिक समझ पैदा करने की भी जरूरत महसूस की। 'धर्म और विकासवाद' शीर्षक लेख के जरिए आचार्य शुक्ल ने लोगों में धर्म के प्रति वैज्ञानिक समझ पैदा करने की कोशिश की है। इस लेख में उन्होंने धर्म को वक्त के साथ विकसित होने वाली चीज बताकर इसे ईश्वर, आध्यात्मिकता तथा अमरत्व जैसी अवधारणाओं के घेरे से बाहर निकालकर एक समन्वयवादी शक्ति दी तथा इसे एक सचेत व्यक्तित्व तैयार करने का साधन बताया। आचार्य शुक्ल 'सचेत व्यक्तित्व' को इन शब्दों में परिभाषित करते हैं- "सचेत व्यक्तित्व वह है जो

बाहरी विषयों के साथ अपने संबंध में तथा सभी विशिष्ट एवं परिवर्तनशील अनुभवों के बीच से अपनी शुद्ध सार्वजनीनता में नैरंतर्य बनाए रखता है।”

शुक्ल जी के युग में सांप्रदायिक सद्भावना के अभाव ने भाषायी एकता के सवाल को भी बुरी तरह प्रभावित किया। हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच का तनाव हिंदी और उर्दू विवाद की शकल ले चुका था। यह विवाद जातीय एकता के मार्ग में बाधक बनकर खड़ा था। इस समस्या से जूझने के लिए शुक्ल जी ने मानक भाषा के विकास का सवाल उठाया। मानक भाषा से उनका आशय एक ऐसी भाषा से था, जिसमें हिन्दी, उर्दू के अलावा दूसरे प्रांतों की भाषाओं से भी वे सभी शब्द शामिल हों, जिनका प्रयोग जनसाधारण सहज रूप से करते हों। अगर न भी करते हों तो आसानी से कर सकें। एक बात यहाँ ध्यातव्य है कि मानक भाषा के विकास से शुक्ल जी का आशय कृत्रिम रूप से एक टकसाली भाषा तैयार करने से कतई नहीं था। ‘उर्दू साहित्य सम्मेलन’ शीर्षक रिपोर्ट में शुक्ल जी ने मानक भाषा के निर्मित होने की प्रक्रिया के संबंध में बड़े स्पष्ट ढंग से कहा कि एक बोली उत्कृष्ट साहित्य रचना तथा सरल नियमों के कारण जब ज्यादा से ज्यादा लोगों द्वारा अपनाई जाती है तब वह मानक भाषा बनती है। मानक भाषा के विकास से शुक्ल जी का मतलब इस बात से था कि ज्यादातर लोगों द्वारा अपनाई गई भाषा को और ज्यादा लोगों के लिए बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से उसमें व्याकरणिक दृष्टि से सरलता लाने के साथ-साथ सरल शब्द भी भरे जाएं। हिन्दी ही आचार्य शुक्ल के अनुसार मानक भाषा हो सकती थी, क्योंकि इसे ज्यादातर लोग बोलते थे। हिन्दी को व्याकरणिक दृष्टि से सरल बनाने की बात शुक्ल जी ने ‘हिन्दी में लिंग नियम’ शीर्षक लेख में की है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि विचारों को जब तक कार्य की शकल नहीं दी जाती तब तक नतीजा नहीं निकलता। मानक भाषा के स्वरूप का सवाल शुक्ल जी के वैचारिक पक्ष से जुड़ा सवाल था। पर वे केवल वैचारिक धरातल तक सीमित नहीं थे। उन्होंने व्यवहारिक धरातल पर उतरकर मानक भाषा के प्रसार के लिए अपनी सामाजिक दृष्टि के सहारे एक ओर ‘हिन्दी साहित्य सम्मेलन’ के लिए एक सुनियोजित कार्यक्रम का प्रस्ताव रखा, तो दूसरी ओर मानक भाषा के प्रसार में बाधक सिद्ध होने वाले ‘पैसा’ अखबार के उस निराशावादी रवैये की आलोचना की, जिसके वशीभूत होकर इस अखबार ने ये विचार रखे थे कि उर्दू के साथ नागरी को भी अदालत की भाषा बना देने से कोई फायदा नहीं हुआ, क्योंकि अर्जियां तो अब भी उर्दू में ही पड़ती हैं। शुक्ल जी भाषायी एकता की स्थापना के लिए देवनागरी लिपि का देश भर में प्रचार जरूरी समझते थे। उनके समय में हुए कांग्रेस अधिवेशन में भी बड़े तार्किक ढंग से देवनागरी को मानक लिपि मानने पर जोर दिया गया था। इस अधिवेशन पर केंद्रित ‘एक लिपि विस्तार कान्फरेंस’ शीर्षक रिपोर्ट लिखकर आचार्य शुक्ल ने लिपि के संबंध में अपना मत व्यक्त करने के साथ-साथ इस संबंध में अपने युग के बुद्धिजीवियों की सोच भी प्रकाशित की। इस रिपोर्ट में उनका अपने युग के बुद्धिजीवियों की कमियों को लक्षित करते हुए उन्हें उचित दिशा निर्देश देने का प्रयास भी शामिल है। कुल मिलाकर इस रिपोर्ट में उन्होंने देवनागरी लिपि को ही मानक लिपि मान लिए जाने की आवश्यकता पर जोर दिया है। यहाँ शुक्ल जी की सामाजिक दृष्टि ने एक दिशा निर्देशक की भूमिका अदा की।

समृद्ध साहित्य, लोगों की रुचि को समृद्ध बनाने के साथ-साथ उनके ज्ञान को भी समृद्ध करता है। इसीलिए आचार्य शुक्ल जातीय साहित्य को समृद्ध बनाने का सवाल उठाते हैं। जातीय साहित्य समृद्ध हो तथा वह लोगों के जीवन को भी समृद्ध करे, इसके लिए दो सवालों पर विचार किया जाना जरूरी था। पहला, साहित्य और समाज के बीच संबंध कैसा होना चाहिए दूसरा, साहित्यकारों को किस तरह की रचनाएँ लिखनी चाहिए ? जहाँ तक साहित्य तथा समाज के बीच संबंध का सवाल है, शुक्ल जी साहित्य को कागज तक सीमित रखने के बजाय जीवन से ज्यादा से ज्यादा जोड़ने के पक्ष में थे। ताकि लोगों के जीवन में भावात्मकता के साथ-साथ क्रियाशीलता का संचार हो। उनके शब्दों में “ध्यान रखो कि जब तक देशी साहित्य के संचार से

परिवार में भावों का सम्मेलन न होगा तब तक ये लोग अपने गार्हस्थ्य जीवन से शक्ति, उत्साह और प्रफुल्लता नहीं प्राप्त कर सकते।”

आचार्य शुक्ल जातीय साहित्य की समृद्धि के लिए साहित्य में मूल्यों की स्थापना को आवश्यक समझते थे। इसके लिए इस बात पर विचार करना जरूरी था कि युग किस प्रकार के साहित्य की मांग करता है। आचार्य शुक्ल ने देशप्रेम की भावना के उदय को युग की महत्वपूर्ण जरूरत मानते हुए साहित्य में प्रकृति के आलंबनात्मक चित्रण पर जोर दिया। उनकी नजर में सच्चे देशप्रेम की भावना का उदय तभी होता है जब हमें देश के जर्ने-जर्ने से लगाव महसूस हो। अतः इसकी शुरुआत निश्चित रूप से प्राकृतिक जगत से होती है। इसीलिए साहित्य में प्रकृति का एक अलग अस्तित्व जरूरी है। आचार्य शुक्ल के प्रकृति से संबंधित यह विचार चिन्तामणि भाग दो में संकलित आलोचनात्मक लेख ‘काव्य में प्राकृतिक दृश्य’ में मौजूद है।

अपनी कुछ पुस्तक समीक्षाओं तथा पुस्तक की भूमिकाओं के जरिये भी आचार्य शुक्ल ने अपने युग में लेखकों को संदेश दिए। ताकि साहित्य में लोकमंगलकारी प्रवृत्तियों का अधिकाधिक समावेश हो सके। उनकी नजर में साहित्य में लोकजीवन को स्थान देना, परंपरा का विश्लेषण तथा युगानुरूप संशोधन, प्रबंधात्मक काव्यों की रचना, जनरुचि के उत्थान के लिए समाजोपयोगी विषयों पर लेखन आदि कुछ ऐसी उपयोगी प्रवृत्तियां थीं जो जातीय साहित्य की समृद्धि में सहायक हो सकती थीं। इसलिए उन्होंने एक ओर लोक जीवन में मौजूद दृष्टिकूटों, सूक्तियों तथा पहेलियों का संकलन करके परंपरा तथा सहज मानवीय भावों को सुरक्षा देने के लिए ‘कूट कलश’ को सराहा, तो दूसरी ओर पारंपरिक मूल्यों का युगानुरूप संशोधन करके नई दिशाएं खोजने के लिए ‘हिन्दी की प्राचीन और नवीन काव्यधारा’ पुस्तक को। शुक्ल जी मुक्तकों और तुकहीन कविताओं को सामाजिक दृष्टि से उतना उपयोगी नहीं मानते थे। मुक्तक में जीवन के विविध पक्षों के रूपायण की कमी तथा तुकहीन कविताओं की पाठकों की स्मृति में ज्यादा दिनों तक जीवित रह पाने की अक्षमता ने शुक्ल जी को इन्हें कम उपयोगी मानने पर मजबूर किया। इन्हीं बातों से प्रेरित होकर उन्होंने एक ओर प्रबंध काव्य ‘नूरजहाँ’ को सराहा तो दूसरी ओर तुकहीन कविताओं के संग्रह ‘उपवन’ की उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लगाया। वस्तुतः मुक्तकों का विरोध शुक्ल जी के रीतिवाद विरोधी दृष्टि का एक पहलू है। रीतिवाद घोर शृंगारिकता को प्रश्रय देता था। ठीक इसके विपरीत उच्चादर्श की स्थापना शुक्ल जी के साहित्य लेखन का लक्ष्य था। अतः शुक्ल जी की दृष्टि का रीतिवाद से टकराना स्वाभाविक था। इसलिए हम आचार्य शुक्ल को प्रमुख रीतिवादी काव्यरूप ‘मुक्तक’ के साथ-साथ घोर शृंगारिकता का भी विरोध करते हुए पाते हैं। एक बात पर गौर करना जरूरी है कि जब भी आचार्य शुक्ल को ‘मुक्तक’ या किसी शृंगारिक रचना में समाजोपयोगी गुणों की मौजूदगी दिखाई दी, उन्होंने हर विरोध भूलकर उन रचनाओं को सराहा। यही कारण है कि वह अछूतोद्धार की भावना को अनूठे ढंग से दोहों में जगह देने के कारण ‘दुलारे दोहावली’ को सराहते हैं। विश्वंभर सहाय व्याकुल के नाटक ‘बुद्धदेव’ को सराहने का महत्वपूर्ण कारण भी इस नाटक में मौजूद जनरुचि के परिष्कार का समाजोपयोगी गुण ही है। आचार्य शुक्ल को इसमें पारसी थियेटर्स की चटक से काफ़ी हद तक मुक्त रहकर आदर्श प्रतिष्ठित करने का गुण मिला।

जातीय साहित्य में कुछ निश्चित प्रवृत्तियों के विकास के साथ-साथ आचार्य शुक्ल ने जातीय साहित्य भंडार को कुछ नई चीजों से भरने पर भी ध्यान दिया। इस कार्य के लिए उन्होंने अनुवाद करने तथा यात्रा वृत्तांत लिखने पर विशेष जोर दिया। अनुवाद उनकी नज़र में दूसरे भाषा-भाषियों के विचारों को समझने का महत्वपूर्ण जरिया था और यात्रा वृत्तांत व्यक्ति के विचारों, अनुभवों में खुलापन लाने, उसके सामाजिक सरोकार को बढ़ाने तथा प्रकृति प्रेम के जरिये देश प्रेम जागृत करने का साधन। इन्हीं भावों से प्रेरित होकर शुक्ल जी ने एक ओर अनुदित उपन्यास ‘शैलबाला’ को सराहा तो दूसरी ओर कैलाश तथा मानसरोवर यात्रा के संबंध में ज्ञान प्रदान करने के लिए सुशील भट्टाचार्य को। आचार्य शुक्ल ने क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के खंडन के जरिए अपनी कुछ बातें कहीं। इससे वे मूल्य उभरकर आए, जिनकी छवि वे अपने युग में साहित्यकारों के सामने

रखना चाहते थे। इनमें सामाजिक यथार्थ से प्रेरणा ग्रहण करने, काव्य के बाह्य गुण 'सुंदरता' के बजाय आंतरिक गुण 'रमणीयता' पर जोर देने, काव्य में नैतिकता को विशेष स्थान देने, कल्पना में भाव के जरिये अन्विति लाने, असुंदर वस्तुओं को भी काव्य में जगह देने, शब्द शक्ति, रस, अलंकार के महत्व को विस्मृत न करने, सौंदर्य की मौजूदगी केवल अभिव्यंजना में न मानकर वस्तु में मानने तथा आनंद की अनुभूति को सिर्फ रचनाकार की बपौती न मानकर उस पर पाठकों के हक को भी स्वीकारने जैसे मूल्य शामिल हैं। वस्तुतः इस विषय पर शुक्ल जी के विचार विस्तृत रूप से चिन्तामणि भाग दो के 'काव्य में अभिव्यंजनाविवाद' शीर्षक लेख में मौजूद हैं। उसका ही पूर्व रूप 'क्रोचे एक विवेचन' है।

भारत को सामंती मूल्यों से छुटकारा न शुक्ल जी के युग में मिल पाया था, न अब मिल पाया है। सामंतवाद की समाप्ति के बाद भी भारतवर्ष जाति व्यवस्था तथा अंधविश्वास जैसे सामंती मूल्यों से मुक्त नहीं हो पाया। एक ओर अंधविश्वास व्यक्ति में सामाजिक तर्कबुद्धि जागृत होने नहीं देता तो दूसरी ओर जाति व्यवस्था मानवता को विभाजित करने के साथ-साथ अकर्मण्यता को भी प्रश्रय देती है। इस तरह सामंती मूल्य राष्ट्रीयता की भावना को पनपने नहीं देते। इसके अलावा पुनर्जन्म में विश्वास, भाग्यवाद आदि की जड़ें भी सामंती मूल्यों में मौजूद हैं। समाज को सही दिशा देने के लिए शुक्ल जी का सामंती मूल्यों से टकराना आवश्यक हो गया था। इसके लिए शुक्ल जी ने वैज्ञानिक दृष्टि का सहारा लिया, क्योंकि केवल वैज्ञानिक तर्कबुद्धि के विकास के सहारे ही विकृत सामंती मूल्यों का उन्मूलन संभव था। अपने 'प्राण तत्व' शीर्षक वैज्ञानिक लेख में शुक्ल जी ने विज्ञान के सहारे आत्मा और प्राण में अंतर दिखाकर आत्मा तथा प्राण के संबंध में लोगों की आध्यात्मिकता से प्रेरित धारणा को बदलने की कोशिश की। ताकि व्यक्ति सामंती मूल्यों की चपेट में आकर अपने वर्तमान जीवन के कष्ट को पूर्वजन्म का फल न माने। व्यक्ति को जब वस्तु विशेष की उत्पत्ति के कारण का पता नहीं होता, वह रहस्यवाद की शरण में जाता है। वह वस्तु को अज्ञात शक्ति से जोड़कर देखता है। प्रकृति के रंग-विरंगी होने की वजह न जान पाने की स्थिति में लोगों ने इसे ईश्वर का वरदान माना। आचार्य शुक्ल ने इस मानसिकता का खंडन करते हुए 'आकाश का नीला रंग' शीर्षक लेख में आलोक तरंगों को रंग-विरंगे जगत का कारण बताकर 'अज्ञात' के कान्सेप्ट को लोगों के दिमाग से निकालने की कोशिश की। इसके अलावा 'धर्म और विकासवाद' शीर्षक लेख में भी शुक्ल जी ने धर्म को सामंती छाया से मुक्त करने के लिए उसे विकासवादी दृष्टिकोण से देखा।

सामाजिक परिस्थितियां राजनैतिक गतिविधियों से अनिवार्य रूप से प्रभावित होती हैं, क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में समाज के अलग-अलग वर्गों के प्रति अपनाये जाने वाले रवैये का सवाल अनिवार्य रूप से शामिल है। अतः आचार्य रामचंद्र शुक्ल की सामाजिक दृष्टि के विवेचन के तहत उस पक्ष का उल्लेख आवश्यक है जिसका संबंध राजनैतिक गतिविधियों की समीक्षा से है। मसलन शुक्ल जी के युग की महत्त्वपूर्ण घटना 'असहयोग आंदोलन' को ही लें। इसके प्रति आचार्य शुक्ल का एक खास दृष्टिकोण है। उन्होंने 'असहयोग तथा अव्यापारिक श्रेणियां' शीर्षक अंग्रेजी लेख (अनुवाद कुसुम चतुर्वेदी) में असहयोग आंदोलन के बारे में अपने विचार व्यक्त किये। उनके अनुसार असहयोग आंदोलन ने अव्यापारिक श्रेणी (नौकरीपेशा लोग, किसान, मजदूर) से सर्वस्व त्यागने की अपील करने तथा व्यापारिक श्रेणी से कुछ भी न मांगने का पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया था। इसके अलावा उनका यह भी मत था कि असहयोग आंदोलनकारियों की भीड़ में 'सुनिश्चित स्वराज्य' के विकल्प के प्रस्तुतीकरण के अभाव में दोहरे चेहरे वाले लोग भी घुस गए थे। असहयोग आंदोलनकारियों के सामने स्वराज्य का सुनिश्चित विकल्प नहीं रखा गया था, इसलिए लोगों को, जिनमें दोहरे चेहरे वाले भी शामिल थे, अपनी वफादारी साबित करने के लिए कुछ भी नहीं करना पड़ा। सिर्फ उनका भीड़ में शामिल होना ही काफी था। इसी बात का लाभ उठाकर छद्मवेशी लोग कभी जनता के साथ हो जाते तो कभी सरकार के साथ। शुक्ल जी ने असहयोग आंदोलन की इस कमजोर नस को पकड़ा। पर शुक्ल जी द्वारा उपर्युक्त सच को सामने रखे जाने से

भी महत्वपूर्ण कार्य था, उनका असहयोग आंदोलन के अंतर्विरोध को बड़े स्पष्ट ढंग से सामने रखना। उनके शब्दों में “यह असहयोग केवल एक सतही विद्रोह है, जिसमें बहुत से परस्पर विरोधी असंतुलनीय तत्व स्वयं को स्थापित करने का प्रयास कर रहे हैं।”

आचार्य शुक्ल इस बात को समझ गए थे कि असहयोग आंदोलन में जहाँ आधुनिक भावबोध से ओत-प्रोत लोग थे, वहीं धर्म और जाति के विचारों को दृढ़ता से पकड़े हुए लोग भी थे। नए के लिए पुराने मूल्यों को त्यागने में तत्पर लोग थे तो पुनरुत्थानवादी लोग भी थे। इसके अलावा शुक्ल जी की आंखों से यह बात भी छिपी नहीं थी कि अंग्रेजों ने अंग्रेजी शिक्षा देकर मध्यवर्ग को तैयार किया। यह वर्ग अंग्रेजों का ही साथ देता था। ऐसे में भारत का उद्धार कैसे हो, यह भी शुक्ल जी के लिए चिंता का विषय था। अतः ‘असहयोग तथा अव्यापारिक श्रेणियां’ लेख में शुक्ल जी ने मध्यवर्ग को महत्व के ‘मिथ्या मूल्यांकन’ से बचने की सलाह दी। यहाँ आचार्य शुक्ल की सामाजिक दृष्टि कुछ खास वर्गों की राजनीति के बारे में निश्चित समझ पैदा करने वाली है। वे दिशा निर्देशक की भूमिका अदा करते हुए जन साधारण को यह संदेश देते हैं- “कार्यरत अंतर्धाराओं को हमारे निरीक्षण से नहीं छूटना चाहिए।”

अंग्रेजों से भारतीयों के हक में लड़ने की क्षमता सिर्फ कांग्रेस में नजर आ रही थी। यह बात गौर करने लायक है कि रामचंद्र शुक्ल की आस्था कांग्रेस पर कम थी। उन्होंने असहयोग आंदोलन के अंतर्विरोधों को देखा। लेकिन आचार्य शुक्ल ने किसानों को महत्व देते हुए भी ‘असहयोग और अव्यापारिक श्रेणियां’ लेख में बहुत स्पष्ट ढंग से यह मत व्यक्त किया कि देशी राजाओं को राष्ट्रीय आदर्शों के साथ सामने आना होगा तथा अपना जनतांत्रिक चरित्र सिद्ध करना होगा। इसके अलावा जातीय भाषा तथा साहित्य के प्रसार का दायित्व भी आचार्य शुक्ल देशी राजाओं को निभाते देखना चाहते थे। ‘राज्य प्रबंध शिक्षा की भूमिका’ में भी देशी राजाओं के यहाँ नियुक्त एक दीवान की भूमिका के प्रति शुक्ल जी की आस्था व्यक्त हुई है। किसी व्यक्ति का संस्कृति प्रेम, जातीय साहित्य तथा जातीय भाषा के प्रसार की आकांक्षा तथा वैज्ञानिक तर्कबुद्धि व्यर्थ है, अगर वह सही समय पर सही वैचारिक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के काबिल न हो सके। आचार्य शुक्ल के मनोविकारों पर केंद्रित लेख ‘चिन्तामणि भाग एक’ में शामिल हैं। उनका लेख ‘मनोविकारों का विकास’ चिन्तामणि भाग-४ में है। प्रेम की महिमा भक्तिकाल से गाई जा रही है, पर क्रोध और घृणा जैसे मनोविकारों का महिमामंडन साहित्यिक क्षेत्र में विरल है। आचार्य शुक्ल के युग में भारत गुलाम था। उस युग में आजादी की लड़ाई लड़ने के लिए भारतीयों में अंग्रेजों के प्रति घृणा तथा क्रोध का होना आवश्यक था। यहाँ एक बात ध्यातव्य है कि आचार्य शुक्ल इन भावों के महत्व के प्रतिपादन के साथ इनके विवेकपूर्ण इस्तेमाल की बात कहना नहीं भूलते।

आचार्य शुक्ल राजनीतिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक समस्याओं को अलग-अलग देखने के पक्षधर नहीं थे। अतः ‘भारत को क्या करना चाहिए’ लेख में वे समाज की कमजोर नसों में जान डालने के लिए समाज सुधारकों, राजनीतिज्ञों, आंदोलनकारियों, कवियों तथा शिक्षाविदों की सम्मिलित आवश्यकता पर जोर देते हैं। वे कार्य को सही अंजाम देने के लिए सबसे पहले उत्साह और एक-दूसरे के प्रति सम्मान भाव भी जरूरी समझते हैं। उनकी दृष्टि में सामाजिक बुराइयों को दूर करना पहली कोशिश होनी चाहिए क्योंकि इन्हीं के कारण मनुष्य की रचनात्मक शक्तियाँ कच्ची उम्र में ही नष्ट हो जाती हैं। सामाजिक बुराइयों को दूर करने की तमाम कोशिशों के साथ शुक्ल जी शिक्षा का उचित प्रबंध आवश्यक समझते हैं। उनका मत है शिक्षा केवल स्कूल, कॉलेज के जरिये ही नहीं बल्कि सार्वजनिक भाषणों के जरिये भी दी जाए। साथ ही लोगों को पढ़ाने के लिए गांव में भी शिक्षक भेजे जाएं। इस संदर्भ में कलकत्ता विश्वविद्यालय में हिन्दी तथा अन्य विषयों की शिक्षा से संबंधित शुक्ल जी द्वारा प्रस्तुत विचारों को समझना आवश्यक है। उनके अनुसार देशी भाषा के साहित्य का प्रसार आवश्यक है, साथ ही अन्य विषयों को समझने के लिए विदेशी भाषा की जरूरत है। परंपरा के प्रति छात्रों की सही समझ विकसित करने के लिए मूल ग्रंथों को भी खोजना आवश्यक है। आचार्य शुक्ल साहित्यिक लेखन की उन्नति के

लिए उच्च शिक्षा का प्रसार आवश्यक मानते थे। जहाँ तक सामान्य शिक्षा के प्रसार का सवाल था, आचार्य शुक्ल उसका प्रसार तीन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक समझते थे। पहला, लोगों में उत्तरदायित्व का भाव जगाने के लिए। दूसरा, लोगों में तर्क शक्ति का विकास करने के लिए। तथा तीसरा आस-पास के परिवेश के प्रति सही समझ पैदा करने के लिए। उन्होंने इस सवाल पर भी विचार किया कि जो शिक्षित होकर निकलेंगे, उनका क्या उद्देश्य होगा ? वे यह भलीभाँति जानते थे कि प्रशासनिक क्षेत्र में अंग्रेज भारतीयों के लिए कोई जगह नहीं छोड़ना चाहते। अतः शिक्षितों का उद्देश्य सरकार का अनुग्रह प्राप्त करना नहीं बल्कि जनता में राष्ट्रीय उत्साह भरना होगा। शुक्ल जी ने इस बात की हिमायत की कि शिक्षितों की सेवाओं का लाभ उठाने के लिए नए शिक्षा केंद्र खोले जाएं। उनकी नजर में 'स्वदेशी आंदोलन' बेरोजगारों तथा उपेक्षितों का हौसला बढ़ाने का सर्वोत्तम उपाय था। इसके अलावा लोगों को एक दूसरे से जोड़े रखने तथा उनमें उत्साह भरने के उद्देश्य से शुक्ल जी ने महापुरुषों की जयंती मनाए जाने पर भी जोर दिया।

यह कहा जा सकता है कि चिन्तामणि- ४ में आचार्य शुक्ल के कुछ ऐसे दुर्लभ निबंध संकलित हैं, जिनसे आचार्य शुक्ल की सामाजिक दृष्टि के कई नए आयामों का बोध होता है। इसके ऐतिहासिक लेखों में सांस्कृतिक गौरव की प्रतिष्ठा के साथ-साथ इतिहास के पुनर्निर्माण तथा ऐतिहासिक युग की विचारधाराओं को समझने की कोशिश है। वैज्ञानिक लेखों में लोगों को सामंती मूल्यों के गर्त से निकालने की कोशिश है तथा सामाजिक विषयों पर केन्द्रित लेखों में लोगों को राजनीति-सामाजिक गतिविधियों के प्रति तर्कपूर्ण रवैया अपनाने की प्रेरणा दी गई है। भाषा तथा साहित्य पर केन्द्रित लेख जातीय भाषा तथा साहित्य के प्रसार पर बल देते हैं। शुक्ल जी द्वारा लिखी गई पुस्तकों की भूमिका तथा समीक्षा साहित्यकारों में विषय तथा शैली से संबंधित विवेक जागृत करती है। उनके रिपोर्ट जन साधारण को समसामयिक स्थितियों से अवगत कराने के साथ- साथ उनमें सदुत्साह भरते हैं। इन सभी में युगीन संदर्भ सदैव महत्वपूर्ण है। आचार्य शुक्ल चिन्तामणि-४ के लेखों में सामाजिक युगद्रष्टा, मार्ग- निर्देशक तथा रुचि परिष्कारक की भूमिका निभाते दिखाई देते हैं।